बेसेल (स्विटजरलैंड)
मई ०१, २००२

सन्देश संख्या ४६

भगवद्गीता क्या है?

गीता कदाचित् वह बारूद या डायनामाइट है जो विगत पचास शताब्दियों से भी अधिक समय से हमारे खण्ड चैतन्य (मन) का पूर्ण एवम् अखण्ड चैतन्य (निर्मन) में विस्फोट द्वारा रूपान्तरण कर रहा है। गीता एक परम पवित्र रहस्य है जिसकी प्रतीत असंगति ही गहन एवं गूढ़ संगति है और यही कारण है कि इसके माध्यम से कोई धार्मिक कट्टरपन अर्थात् हठधर्मिता प्रतिपादित नहीं की जा सकती है। गीता के माध्यम से किसी रूढ़िवादी धर्म की स्थापना भी नहीं की जा सकती है। विद्वान लोग इससे भय खाते हैं क्योंकि वे ढूँढ़ने पर भी इसमें परम्परागत धर्मशास्त्र नहीं पाते हैं। गीता जीने के लिए प्रत्यक्षबोध उत्पन्न करती है, उपदेश देने के लिए अवधारणायें और धर्म सिद्धान्त नहीं। गीता आत्मसात् करने योग्य विद्रोह भाव है, न कि धर्म के नाम पर माफियाओं और गिरोहबन्दों को इकट्ठा करने वाला एक तथाकथित क्रान्तिकारी विचार या मत। गीता अपनी सम्पूर्ण भव्यता एवं गूढ़ रहस्यों के साथ मनुष्य की धार्मिक प्रतिभा को दर्शानेवाली एक उत्कृ कलाकृति है। गीता विश्व के धार्मिक साहित्यों के इतिहास में सर्वाधिक पढ़ी गयी एवम् अनूदित ग्रन्थों में से एक है। गीता ने मानवीय अहंकार, मन और बुद्धि की सभी सीमाओं को पार कर एक प्रामाणिक एवं सार्वभौमिक कृति के रूप में अपनी पहचान बनाई है। गीता विशुद्ध प्रज्ञा की ऊर्जा यानी चिति–शक्ति तथा पुरुष–प्रकृति की ओर इंगित करती है। गीता ने व्याख्याकारों और अनुवादकों को चकरा दिया है। आज भी यह उनके समझ में नहीं आ पाई है। गीता की काव्यात्मकता, लय और भाषायी योगदान उत्कृ, श्रेष्ठ एवम् अतुलनीय है। गीता की समझदारी उसे बार–बार पढ़ने और ध्यान करने से हमारी अस्थि–मज्जा और रक्त कोशिकाओं में घटित होती है। गीता हमें विकल्परहित जागरूकता के पूर्ण चैतन्य अर्थात् वह 'अज्ञान' जो जानता है, न कि उस 'ज्ञान' जो अज्ञान है, को उपलब्ध होने के लिए आमंत्रित करती है। गीता एक अद्वितीय विश्व–दृष्टि है जो दूसरों को सहन करती है और एक साथ बहुविध दृष्टिकोण रखने की अपेक्षा करती है ताकि धर्म सम्पूर्ण मानवता को धारण करे और धर्मांधता, कट्टरता एवं संघर्ष में परिवर्तित न हो। गीता में वर्णित युद्ध प्रतीकात्मक है। यह युद्ध वस्तुतः बुद्ध है। यह दुष्टता और प्रज्ञा के बीच युद्ध है। यह मन के सहयोग एवम् उसी के माध्यम से 'मनोविकृति' और 'निर्मन' के मध्य युद्ध है। दुर्योधन मनोविकृति है, अर्जुन मन है और कृष्ण 'निर्मन' अर्थात् शुद्ध प्रज्ञा (चैतन्य) है। गीता हमें अपनी पुरानी छवियों, पहचानों से मुक्ति प्रदान करती है। गीता हमें विघटन से मुक्त कर एकीकरण (योग), प्रतिक्रिया से क्रिया (क्रियायोग), जीवन की लालसा से जीवन (स्वाध्याय), विरोधाभासों से शुद्ध चैतन्य (ईश्वर प्रणिधान), प्रकृति (जन्मजात विशेषता एवं प्रवृत्ति) से पुरूष (प्रबुद्ध अस्तित्व का अनुभवातीत सत्य) की ओर ले जाती है। गीता कर्मफल त्याग, गुणों के वर्गीकरण, स्थितप्रज्ञावस्था के आविर्भाव और अकर्ता–भाव के महत्व की प्रज्ञा है।

गीता शुद्ध चैतन्य (कृष्ण) की अनुकम्पा (करुणा) के प्रकृति की व्याख्या यह कहते हुए करती है कि कृष्ण अनेक देवताओं, ऋषियों, वृक्षों, हाथियों, घोड़ों, सिंहों, अस्त्र–शस्त्रों, दानवों, मंत्रों, योद्धाओं, नदियों, पर्वतों, वैदिक स्तोत्रों तथा अन्य नाना रूपों में दिखाई पड़ते हैं। जो कुछ भी श्रेष्ठ है, पूजा के योग्य है और जो अवधारणामूलक चित्तवृत्ति की सीमाओं से निकलकर अपने वास्तविक स्वरूप की ओर आरोहण के लिए प्रेरित करता है, उन सब में वह अभिव्यक्त होता है। गीता के अतिरिक्त किसी दूसरे धार्मिक ग्रन्थ में मरणधर्मा मनुष्य के मुक्त एवं बद्ध अवस्थाओं के मध्य भेद की इतनी सुस्पष्ट व्याख्या इतनी गहराई से नहीं की गई है।

गीता कोई नैतिक आज्ञापत्र जारी नहीं करती है और न ही यह ऊँचे आसन से कोई उपदेश देती है। यह अनासक्त कर्म का प्रबुद्ध पथ है। गीता का सन्देश रूढ़िवादी हिन्दू तथा अन्य समस्त धर्मशास्त्रों की सीमाओं के परे है। विविधता गीता का विधान है और अलग–अलग मार्गों को परस्पर पूरक एवम् अन्योन्याश्रित के रूप में स्वीकार किया गया है। गीता में विविध पद्धतियों तथा दृष्टिकोणों को साथ लेकर

चलने की सौम्य उदारता है। केवल गीता में, स्पष्टतया अनीश्वरवादी सांख्य पूर्ण रूप से ईश्वरवादी भक्ति मार्ग के साथ पूर्ण समझदारी की चरम ऊर्जा में बिना किसी व्यवधान के रह सकता है। अन्ततोगत्वा कृष्ण अठारहवें अध्याय के तिरसठवें श्लोक में कहते हैं– ''इस प्रकार मेरे द्वारा तुम्हें उस ज्ञान का उपदेश किया गया है जो गुह्य से भी गुह्यतर है। इस पर पूर्ण रूप से ध्यान करते हुए वैसा करो जैसा तुम चाहते हो।''

यहाँ कोई गुरूगीरी नहीं, कोई शिष्य–समुदाय नहीं, केवल प्रस्फुटित एवं पुष्पित होना है, अपनी ज्योति (पथ–प्रदर्शक) स्वयं बनना है। यह मानवजाति को गीता का वह उपहार है जिसमें यह इंगित किया गया है कि मनुष्य की महानता यह है कि कोई दूसरा उसका उद्धार नहीं कर सकता है। मनुष्य को अपना उद्धार स्वयं करना है अथवा वे एक दूसरे को न कर डालेंगे जैसा कि उन्होंने अतीत में किया है और इस समय भी कर रहे हैं। ईश्वर की खातिर इस बात को समझें कि कोई ईश्वर या ईशपुत्र या कोई प्रबुद्ध पुरूष किसी का उद्धार नहीं कर सकता है। यह समझदारी घटिया और क्षुद्र मन की बौद्धिक समझदारी नहीं बल्कि निर्मनावस्था (कृष्ण) की सर्वोच्च समझदारी है। मन की आत्मसंरक्षी यंत्ररचना (आसक्ति, आकांक्षा एवम् आश्रय की खोज) को बनाये रखने के लिए एक उद्धारक, अवतार, पैगम्बर, परमहंस, स्वामी, लामा, बाजारू योगी इत्यादि का दुरूपयोग न करें। अहंकेन्द्र की निष्क्रियता (अकमण्यता नहीं) कर्म का सर्वोच्च स्वरूप है और यही क्रियायोग है।

''निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कम कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।'' (४.२१)

बिना लालसा और आसक्ति के, परिग्रह के समस्त उत्प्रेरकों का परित्याग करते हुए जब केवल शरीर से ही कम किया जाता है तब कोई पाप या दोष उत्पन्न नहीं होता है।

गीता का पाठ और ध्यान बार–बार करना चाहिए। केवल तभी गीता में छिपी हुई वास्तविक प्रज्ञा उद्‌घटित और अनुभूत हो सकती है। इसके सम्बन्ध में और अधिक चर्चा अगले सन्देश (सं०–५०) में की जाएगी। इस बीच हम गीता के अन्तिम श्लोक (संख्या–७८, अध्याय–१८) पर विचार करें जिसमें संजय

काव्यात्मक रूप में उद्‌घोषित करते हैं – जहाँ कृष्ण (विशुद्ध प्रज्ञा, चितिशक्ति) हैं और जहाँ धनुर्धर अर्जुन (रूपान्तरण के लिए तैयार चित्तवृत्ति) हैं, वहीं पर निश्चित रूप से प्रकाश, विजय, वैभव और सच्चाई है।

।। कृष्णं वन्दे जगद्‌गुरूम् ।।